IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

रीतिकाव्य : भक्तिकाव्य का नवीन काव्य में विस्थापन

डॉ. दीपक त्रिपाठी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

रामकृष्ण महाविद्यालय, बिहार, इंडिया

Abstract : रीतिकाव्य का काल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के पश्चात आता है। इस शोध-पत्र में इस बात का अन्वेषण किया गया है कि क्या रीतिकाव्य एक प्रकार से भक्तिकाव्य का विस्थापन था या उसी का प्रकारान्तर से विस्तार है ? इस बात की पड़ताल भी की गयी है क्या रीतिकाव्य का कोई आन्तरिक सम्बन्ध भी भक्तिकाव्य से है अथवा ये स्वतः प्रसूत कोई नव्य काव्य है ? शोधपत्र में यह भी छानबीन की गयी है कि इस विस्थापन के पश्चात जिस नवीन काव्य की स्थापना हुई उसका स्वरुप क्या था ? क्या रीतिकाव्य साहित्य-परम्परा और भारतीय समाज के साथ-साथ मानव-जीवन के सहज स्वरुप से तादात्म्य स्थापित कर रहा है अथवा नहीं। इन सब विचारों तथा अवधारणाओं को विभिन्न विद्वानों तथा आलोचकों के कथनों के आलोक में मूल्यांकित किया गया है।

Index Terms : *रीतिकाल, भक्तिकाव्य, कला, धर्म, साहित्य*

रीतिकाल में ऐसा नहीं था कि भक्तिकाव्य की समाप्ति हो गयी थी। जब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-निबन्धन के दौरान उपलब्ध सामग्रियों का मूल्यांकन किया गया होगा। कवियों की संख्या, ग्रन्थों की संख्या और उन सबकी प्रामाणिकता के वर्गीकरण ने पूरे परिदृश्य को बिल्कुल साफ कर दिया। हिन्दी-साहित्येतिहास को पढ़ते हुए हम जितना साफ-सुथरा वर्गीकरण एवं स्पष्ट विभाजन आज देखते हैं, वह इतिहासकारों की अपनी बुद्धि से हुआ है। ये मानना तो किसी दृष्टि से भी तर्कसंगत नहीं होगा कि कवियों ने इन विभाजनों (नामकरण और काल-विभाजन दोनों) को ध्यान में रखकर काव्य-सृजन किया होगा। समाज ने जिस प्रवृत्ति और काव्य तथा जिस कवि को जितनी वरीयता-प्राथमिकता दी होगी, वह उतना ही उस काल में स्वीकार हुआ होगा। निष्पक्ष इतिहासकारों ने भी किसी कवि को इन्हीं सब आधारों पर महत्त्व दिया है।

भक्तिकाल के विशाल गर्भ से रीतिकाल का जन्म कैसे हुआ, यहाँ कुछ विशिष्ट संकेतों से हम उसी को जानने का प्रयास करेंगे। ''अनेक लेखकों की दृष्टि में तो कविता और धर्म के बीच एक ही चीज उभयनिष्ठ है और यह है 'मिथ'। बेशक, इसके साथ-ही-साथ एक आधुनिक दृष्टिकोण भी है। जिसका प्रतिनिधित्व मैथ्यू अर्नाल्ड और आई. ए. रिचर्ड्स करते हैं कि कविता धीरे-धीरे अतिप्राकृतिक धर्म का स्थान ग्रहण करती चली जायेगी जिसमें आधुनिक बुद्धिजनों का विश्वास नहीं रह जायेगा, लेकिन सम्भवत: इससे अधिक प्रबल तर्क इस दृष्टिकोण के समर्थन में दिया जा सकता है कि कविता बहुत अधिक दिनों तक धर्म का स्थान नहीं ले सकती, क्योंकि सम्भवत: इसका अन्त धर्म से पहले ही हो जायेगा। धर्म एक बड़ा रहस्य है; कविता छोटा रहस्य है। धार्मिक मिथ (पुराणकथाएँ) कविकृत रूपक की बहुत व्यापक स्वीकृति है।'' [१]

इस कथन में मुख्यत: दो बातें हैं जो कविता और धर्म के सम्बन्धों को निर्धारित कर रही हैं। जब कविता और धर्म की तुलना की जाती है तो एक तथ्य ऐसा है जो दोनों में उभयनिष्ठ है और एक तथ्य ऐसा भी है जो काव्य को धर्म से छोटा भी कर देता है। भक्तिकाल का समस्त काव्य धर्म पर ही आधारित था, हम कबीर और जायसी के काव्य को भी नये धर्माख्यान से ही जोड़कर समझते हैं और अन्तत: उनकी जड़ें धर्म में ही प्राप्त होती हैं। यदि हम अप्रामाणिक को ही प्रामाणिक मानने लगते हैं, असम्भव को भी सम्भव मानने लगते हैं अथवा किसी भी विषय, वस्तु अथवा पात्र का जो अर्थ नहीं है उसका आरोपण-निर्धारण करने लगते हैं तो यही सामान्य रूप से मिथक कहलाता है। पहली मुख्य बात यही है कि कविता और धर्म के मध्य 'मिथ' ही उभयनिष्ठ है। 'कविता धीरे-धीरे अतिप्राकृतिक धर्म का स्थान ग्रहण करती चली जायेगी' जैसे कथन में 'अतिप्राकृतिक धर्म' से सामान्यत: क्या आशय हो सकता है ? एक साधारण बालक से लेकर वृद्ध तक के लिए प्रेम से अधिक प्राकृतिक भाव और क्या हो सकता है ? दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'धर्म एक बड़ा रहस्य है; कविता छोटा रहस्य है'। हम धर्म जैसे बड़े रहस्य को समझने के लिए कविता जैसे छोटे रहस्य को माध्यम बनाते हैं। 'कविता बहुत अधिक दिनों तक धर्म का स्थान नहीं ले सकती' लेकिन हम प्राय: देखते हैं कि संस्कृत के जितने भी धर्मग्रन्थ मिलते हैं, वे सब श्लोकों में, अर्थात् किसी-न-किसी छन्द में ही प्राप्त होते हैं। लगभग सभी प्रमुख धर्मों के आधार-ग्रन्थ पद्यबद्ध रूप में ही प्राप्त होते हैं। असमंजस यह उपस्थित हो जाता है कि धर्म की भावना मनुष्य हृदय में पहले आयी होगी या काव्य-भावना ? दोनों एकदम स्वतन्त्र हैं या दोनों का अस्तित्व एक दूसरे का पूरक है ? इतिहास तो यही कह रहा है कि कविता का विकास बिना धर्म के भी हो रहा है, जबकि धर्म तो काव्य का सहारा कई स्थानों पर लेता दिखायी देता है। भक्तिकाल के काव्योपरान्त रीतिकाव्य का आगमन हमें धर्म और कविता के सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि वो कौन-से तत्त्व थे जिन्होंने भक्तिकाल की काव्य-परम्परा को मुख्यधारा से विस्थापित किया। भक्तिकाव्य से रीतिकाव्य की ओर होनेवाली 'शिफ्टिंग', जो कवि की भी थी और श्रोता की भी थी, अपने में किन मुख्य कारणों को समाहित किये हुए थी ? क्या राजनीतिक, सामाजिक इत्यादि कारणों के अतिरिक्त किसी प्रकार के साहित्यिक कारण भी रीतिकाल की उत्पत्ति में सहायक थे ? यदि हाँ, तो वे कितना अधिक महत्त्वपूर्ण थे ? यह भी हो सकता है कि भक्तिकाव्य के उपरान्त रीतिकाव्य का प्रादुर्भाव साहित्य का ही एक विकास-क्रम हो, जिससे हम अनभिज्ञ हों। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि रीतिकाव्य भारतीय समाज के पतनोन्मुख होने का द्योतक नहीं, बल्कि साहित्य के किसी अज्ञात विकास-सिद्धान्त का प्रतिफलन है। इस दिशा में कुछ अन्य बिन्दुओं पर उत्तरोत्तर विश्लेषण की आवश्यकता है।

प्रसिद्ध आलोचक निर्मल वर्मा अपने निबन्ध 'सम्प्रेषण का संकट' में लिखते हैं— ''कला की समस्त विधाओं में शायद एकमात्र साहित्य ही ऐसी है, जिसकी पहुँच केवल एस्थेटिक रसास्वादन तक ही सीमित नहीं रहती— उसके परे जाने की कोशिश करती है। इसका कारण है। साहित्य चूँकि सम्पूर्ण रूप से शब्द के प्रति बद्ध है, वह कभी सम्पूर्ण रूप से आत्मकेन्द्रित नहीं हो सकता। शब्द का यह स्वभाव है कि वह दूसरे तक पहुँचकर ही सम्पूर्ति प्राप्त करता है। दूसरी तरफ वह एक ऐसे अनुभव से जीवन ग्रहण करता है जो अपने में नितान्त विशिष्ट है, अलग है, स्वाधीन है।'' [2]

यहाँ स्पष्ट है कि हम साहित्य और शब्दों के माध्यम से मात्र एस्थेटिक, अर्थात् सौन्दर्य या सौन्दर्यबोध का ही विनिमय नहीं करते, अपितु उससे भी बढ़कर कोई तत्त्व है जिसके प्रसरण के लिए साहित्य-साहचर्य आवश्यक है। साहित्य अन्य कलाओं से भिन्न है; इसकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता निर्मल वर्मा यह बता रहे हैं कि शब्दों पर आधारित-आश्रित होने के कारण साहित्य दूसरे तक पहुँचकर ही सार्थक हो पाता है। शब्दों का अर्थ श्रोता ही निर्धारित करता है। इसलिए किसी भी काव्य पर आत्मकेन्द्रित होने का आरोप पूरी तरह से नहीं हो सकता। यह किसी भी स्थिति में किसी-न-किसी को सम्बोधित मानकर ही लिखा जाता है। आचार्य भिखारीदास ने इसे और भी स्पष्ट किया है— ''आगे के सुकवि रीझिहैं तो कबिताई, न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'' [3] इसमें नवीन कथ्य यह है कि कबिताई दूसरी चीज है और राधा-कृष्ण पर कुछ पद्यबद्ध करना दूसरी बात है। कविता वही है जिस पर सब रीझ जायें। साहित्यकार अपने विशिष्ट एवं स्वाधीन अनुभवों को अन्य तक पहुँचाने का खतरा भी उठाता है। शब्दों के परम्परागत अर्थ सहायता भी करते

हैं और कभी-कभी बाधा भी उत्पन्न करते हैं। रीतिकवियों ने यह खतरा उठाया है और प्रत्येक ईमानदार कवि यह खतरा उठाता है।

''रीतियुगीन रीति-शृंगारधारा के कवि वास्तव में आदि से अन्त तक कवि ही हैं, कवि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भक्ति, वैराग्य, नीति, उपदेश जो वृद्धावस्था की भावनाएँ हैं और जो पूर्ववर्ती तथा समवर्ती युग की अन्य धाराओं के साहित्य में परिव्याप्त थीं, उन्हें छोड़कर इन कवियों ने यौवन और सौन्दर्य को अपना विषय बनाया। उन्होंने जीवन के बसन्त पर छन्द लिखे, अतएव स्वाभाविक ही है कि इन कवियों का दृष्टिकोण अन्य कवियों से भिन्न हो। इसी कारण इस प्रवाह की कविता की विशेषताओं में सौन्दर्य एवं भाव-चेतना प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। भक्तिकालीन सौन्दर्य-चेतना, नैतिकता एवं आदर्शात्मकता के आकाश में विचरण करती है, परन्तु रीतियुगीन सौन्दर्य-चेतना धरती पर के सौन्दर्य-वैभव का चयन और आकलन करनेवाली है। अपनी उत्कृष्टता में वह किसी प्रकार कम नहीं, पर उत्कृष्ट होती हुई भी वह अलौकिक सौन्दर्य नहीं, लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करती है।'' [4]

डॉ. भगीरथ मिश्र स्पष्ट रूप से 'भक्ति, वैराग्य, नीति, उपदेश' को वृद्धावस्था की भावना बता रहे हैं। इस बिन्दु के विस्तार में जाने से विषयान्तर भी हो सकता है। इतना तो स्पष्ट रूप से कहा ही जा सकता है कि आम जनता और छोटे-छोटे राजा तथा सामन्त जितने राजनीतिक दबाव में भक्तियुग में थे उतना रीतियुग में तो नहीं ही थे। भगवद्-शरण किन परिस्थितियों में अधिक सम्भाव्य है इसका मूल्यांकन एक अलग विषय ही है। भक्ति-साहित्य में व्यक्तिगत अनुभवों की गुंजाइशें कम होती हैं। जब हम मिथकों की दुनिया में जाकर यथार्थ का समाधान तलाश करते हैं तो वस्तुनिष्ठता कम हो जाती है। सूरदास के काव्य में कल्पना की मात्रा अन्य भक्तकवियों की तुलना में कई-कई गुना अधिक है। राधा-कृष्ण और गोपियों के प्रसंग में सूरदास ने जिस वाक्-विदग्धता का परिचय दिया है, वह अभूतपूर्व है। बिना काव्यात्मक तत्त्वों के भक्तिकाव्य भी ग्राह्य नहीं हो सकता। सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि सूरदास में काव्य की मौलिकता तो अद्वितीय है, परन्तु व्यक्तिगत वे कहीं नहीं हैं, अर्थात् जो भी व्यक्ति काव्य का अवलोकन करता है वह कवि के स्थान पर स्वयं को आरोपित करके ही रसास्वादन करता है। रीतिकाव्य का श्रोता रीतिकवि की आँखों से देखने लगता है। वह उन्हीं चीजों को दूसरे ढंग से देखने लगता है जिन्हें वह प्रतिदिन अपने ढंग से देखता है। यह 'दूसरा ढंग' रीतिकवि का ढंग होता है।

सूरदास के अतिरिक्त अन्य भक्ति-कवियों ने निश्चित भाव-भूमि में जो कुछ कहा है उसके महत्त्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, परन्तु वह पाठक और श्रोता का व्यक्तिगत अनुभव भी हो, यह आवश्यक नहीं। रीतिकाव्य में एक प्रकार की व्यक्तिनिष्ठता है और यह व्यक्तिनिष्ठता ही रीतिकाव्य को आधुनिकता के निकट ले जाती है। व्यक्तिनिष्ठता का आशय यह नहीं कि कवि अपने व्यक्तिगत भावों को शब्दबद्ध कर रहा है, बल्कि यह भी होता है कि उसकी रचना में 'व्यक्ति' महत्त्वपूर्ण है, चाहे वह कवि हो, चाहे श्रोता हो।

हम स्पष्ट रूप से ऊपर आचार्य भिखारीदास के उद्धरण से देख चुके हैं कि 'कबिताई' और 'सुमिरन' में अन्तर है। अब यह भी प्रश्न उठता है कि कैसे एक युग के आगमन पर दूसरे युग की काव्य-प्रवृत्ति का विस्थापन हो जाता है। क्या लोकप्रियता से इसका कोई सीधा सम्बन्ध या हस्तक्षेप है अथवा साहित्य-कला अपनी आन्तरिक बनावट में कुछ ऐसे परिवर्तन करती रहती है जो अनुभूतियों की अभिव्यक्ति-पद्धति में संशोधन कर देते हैं और यह संशोधन साहित्य के नवीन रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। ''कलात्मक साहित्य से लोकप्रिय साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह भी याद रखना पड़ता है कि साहित्य की अवधारणा ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है, इसीलिए इतिहास-प्रक्रिया में साहित्य की अवधारणा भी बदलती रही है। लेखन का जो रूप एक समय साहित्य के अन्तर्गत माना जाता था, वह बाद में साहित्य से बाहर हो गया। इसके ठीक विपरीत जो कभी साहित्य में शामिल नहीं था, वह बाद में साहित्य मान लिया गया।'' [5] आशय यह है कि जब हम साहित्य को समाज से सम्बन्धित करके देखते हैं तो समाज में साहित्य की स्वीकार्यता के दृष्टिकोण से बहुत कुछ तय होता है। 'साहित्य की अवधारणा ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है' से यही प्रतिध्वनित हो रहा है कि समय बदलने पर इतिहासकारों की अवधारणाएँ भी बदल सकती हैं। हम प्राय: मिथकीय साहित्य की रूपक-संरचना को समकालीन सन्दर्भों में प्रासंगिक बनाते हुए व्याख्या करते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी हम देखते हैं कि इतिहासकारों ने भक्तिकाल में भक्ति-साहित्य को ही विशेष महत्त्व दिया एवं रीतिकाल में रीतिकाव्य के अतिरिक्त चल रही

अन्य धाराओं एवं प्रवृत्तियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। भक्तिकाल की समस्त काव्यधाराएँ रीतिकाल में भी विद्यमान थीं, परन्तु रीति-साहित्य की अधिकता अथवा समीक्षकों-इतिहासकारों की अपनी अवधारणा; चाहे जो भी कारण रहा हो, नामकरण से लेकर अन्य प्रकार की समीक्षा एवं प्रवृत्ति-निर्धारण आदि में रीतिकाव्य को ही केन्द्र में रखा गया। हमें इस दिशा में भी ध्यान देना होगा कि विभिन्न कारणों में से एक कारण यह भी है कि जिससे भक्तिकाव्य विस्थापित हुआ होगा। यहाँ यह भी मान लेने में संकोच नहीं कि कदाचित् लोकभाषा में भक्ति-साहित्य का चरम प्राप्त हो जाने के बाद अब उस दिशा में किसी प्रकार की काव्यात्मक गुंजाइशें नहीं बची थीं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्वाभाविक प्रवाह ने अपने लिए एक विकल्प अथवा बेहतर विकल्प की तलाश कर ली हो।

''धर्म जब व्यक्ति को बाँधता है तो इसका तात्पर्य होता है कि उसमें निश्चय ही रूढ़िवादिता, कट्टरता और सामाजिकता आ गयी है। उसकी रचनात्मकता समाप्त हो गयी है। यदि धर्म में थोड़ी भी उपदेशात्मकता और स्थिरता आती है तो यह प्रतिक्रिया और निषेध का कारण बनकर राजनैतिक और आर्थिक हित-सम्पादन का कार्य होता है।'' [6]

आगे वे यह भी लिखते हैं— "रीतिकाल पर ही यह दोष क्यों लगाया जाता है कि वह यथार्थ से पराङ्मुख है। संस्कृत से लेकर रीतिकाल तक यह वैचारिक दशा विद्यमान हो। वस्तुतः माया और ब्रह्म के पचड़े में जीव ने अपनी उन्मुक्ति का खयाल अधिक किया और लोगों का कम।" [7]

डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र स्पष्टत: कह रहे हैं कि 'धर्म जब व्यक्ति को बाँधता है तो इसका तात्पर्य होता है कि उसमें निश्चय ही रूढ़िवादिता, कट्टरता और सामाजिकता आ गयी है'। इस कथन को यदि हम सत्य मानें तो इसे उलटकर भी समझ सकते हैं कि— जब व्यक्ति में कट्टरता, रूढ़िवादिता और सामाजिकता आती है तो वह धर्म की ओर अधिक उन्मुख होता है। यहाँ 'सामाजिकता' का आशय व्यक्तिनिष्ठता का न होना भी माना जा सकता है। यहाँ डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र ने धर्म के साहित्य में आने से होनेवाले कुछ विशेष प्रभावों का उल्लेख किया गया है। अब वे प्रभाव सकारात्मक हैं अथवा नकारात्मक यह कहा नहीं जा सकता। यदि उनके इन कथनों से सूचीबद्ध रूप में कुछ निष्कर्ष निकालें तो वे इस प्रकार हो सकते हैं—

०१. धर्म से 'रूढ़िवादिता, कट्टरता और सामाजिकता' का प्रवेश काव्य में हो जाता है।

०२. धर्म से रचनात्मकता समाप्त हो जाती है।

०३. धर्म की 'उपदेशात्मकता और स्थिरता' 'प्रतिक्रिया और निषेध का कारण बनकर राजनैतिक और आर्थिक हित-सम्पादन' करती है।

उपर्युक्त निष्कर्षों पर अलग से किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं हैं। वे अपनी बात समाप्त करते-करते इतना अवश्य कह रहे हैं कि 'रीतिकाल पर ही यह दोष क्यों लगाया जाता है कि वह यथार्थ से पराङ्मुख है'। धर्मकाव्य (भक्तिकाल) में कवियों ने माया, ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा, निर्गुण, सगुण, भव-जाल, भव-सागर, मोक्ष-मुक्ति आदि-इत्यादि जैसे कल्पना-जगत की सैर में प्रतिभा-व्यय की है। ये सब कवि की व्यक्तिगत मुक्ति के प्रयास थे। रीतिकाल की व्यक्तिगत कलात्मक प्रवृत्तियों ने भक्तिकाल की आदर्शवादिता का विपक्ष पैदा किया।

''आइडियोलॉजी के विरुद्ध कला ने ही एकमात्र चुनौती प्रस्तुत की है, एक अन्तिम, व्याकुल चुनौती, जिसके भीतर आधुनिक संकट के फँसे मनुष्य ने इतिहास की स्वेच्छाचारी विकृतियों के खिलाफ अपनी सम्पूर्ण अस्मिता को साबित और परिभाषित करने की चेष्टा की है, किन्तु इसी चुनौती ने कला को सबसे अधिक संदिग्ध, शंकालु और द्विविधात्मक बना दिया है; चेतना की उपज होते हुए भी यह कला अवचेतन की जड़ों में अपनी पवित्रता और सार्थकता ढूँढती है।'' [8] यथार्थ के पक्ष में कला 'एक अन्तिम, व्याकुल चुनौती' प्रस्तुत करती है। 'चेतना की उपज होते हुए भी यह कला अवचेतन की जड़ों में अपनी पवित्रता और सार्थकता ढूँढती है'। इस कथन से निर्मल वर्मा उस मान्यता की ओर संकेत कर रहे हैं जिसमें विभिन्न कलाओं को अवचेतन मस्तिष्क से जोड़ा जाता है। वस्तुत: कला सीधे-सीधे चेतन मस्तिष्क से सम्बन्ध रखती है। काव्य-कला का भी सम्बन्ध चेतन-स्तर से अधिक है। जब हम युगों-युगों से चली आ रही किसी मान्यता, श्रद्धा, आस्था को काव्य की विषय-वस्तु को बनाते हैं तो बहुत हद तक अचेतन में पड़ी बातें रूपायित होती हैं, परन्तु जब हम पूर्णत: नवीन एवं मौलिक उद्भावनाओं को साकार करते हैं तो हम चेतन मस्तिष्क के स्तर पर कार्य

करते हैं। कला में अधिक जागरूकता की आवश्यकता होती है। रीतिकवियों के काव्य की जागरूकता अद्भुत है; पारलौकिकता के बजाय इन्होंने लौकिकता में चमत्कार की आशा की है। परावाणी के बजाय वाणी का माधुर्य सुना है। यह भी सम्भव है कि ये सब अवचेतन से प्रसूत हो, किन्तु उसका कलात्मक प्रस्तुतीकरण तो चेतन-स्तर से ही प्राप्त होता है।

भक्तिकाल के उपरान्त जिस नवीन काव्य का स्थापन हुआ यह किस प्रकार अपने पूर्ववर्ती काव्यों का स्थानापन्न बना और इसकी स्वयं की आन्तरिक विशेषताएँ क्या थीं, इस पर भी विचार आवश्यक है। इसमें जो कलात्मकता थी उसका मूल्य क्या था और उन मूल्यों की उपयोगिता क्या थी ? यह भी समझना आवश्यक है, क्योंकि ''अक्सर कला और मूल्यों के तनाव का समाधान करने में समझौतापरक और रूढ़ तरीका अपना लिया जाता है। कला के अन्तर्निहित मूल्यों को इस हद तक दुर्बल कर दिया जाता है कि साहित्य खुद अपने मूल स्वरूप में विद्रूप बन जाता है। उदाहरण के तौर पर लेनिन का यह कथन कि साहित्य मात्र जनता की सेवा करने का उपकरण है या सार्त्र की यह स्थापना कि साहित्य-रचना स्वयं ही एक नैतिक कर्म है— ये दोनों रुख साहित्य और मूल्यों की समस्या को सुलझाते नहीं, उससे कतराकर निकल जाते हैं। निश्चय ही ये दोनों रुख वे लोग अपनाते हैं, जो कला में कलात्मक आग्रहों के अलावा भी कुछ देखना चाहते हैं।'' [9]

स्पष्ट है कि निर्मल वर्मा 'कला में कलात्मक आग्रहों' के हामी हैं। वे ऐसे लोगों को समस्या सुलझाने के बजाय कतराकर निकल जानेवाला कह रहे हैं जो 'कला में कलात्मक आग्रहों के अलावा भी कुछ देखना चाहते हैं'। इसके लिए वे दो अलग-अलग ध्रुवों से उदाहरण प्रस्तुत कर रहें हैं— लेनिन और जे. पी. सार्त्र। निर्मल वर्मा का मानना है कि कला के 'अन्तर्निहित मूल्यों' को दुर्बल करने से 'साहित्य खुद अपने मूल स्वरूप में विद्रूप बन जाता है'। हम जब कलात्मक वस्तुओं का मूल्यांकन करने के क्रम में उसके नकारात्मक बिन्दुओं को उभारते हैं या किसी भी बिन्दु की नकारात्मक व्याख्या करते हैं तो उसकी कला कमजोर हो जाती है और वह सम्पूर्ण कृति विद्रूप हो जाती है। हम जब साहित्य के मूल्यांकन-क्रम में कलात्मक वस्तुओं की उपेक्षा करके या तो उसे उपयोगितावादी दृष्टिकोण (जैसे समाज-सेवा आदि) से देखने लगते हैं या बहुत दर्शनिक ढंग से देखने लगते हैं तो साहित्य की मूल्य-समस्या का कोई सार्थक हल नहीं निकल पाता। कहने का आशय यह हुआ कि साहित्य का अपना एक कलात्मक मूल्य होता है। रीतिकाव्य का भी अपना एक कलात्मक मूल्य है। काव्य-साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य को उसी दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए जिससे भक्तिकाव्य को देखा जाता अथवा आदिकालीन काव्य को देखा जाता है।

रीतिकाल भक्तिकाल के ठीक बाद आता है, इस क्रम पर रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने एक अत्यन्त सार्थक टिप्पणी की है। जब वे हिन्दी-साहित्य और संवेदना के विकास-क्रम को विश्लेषित करते हैं तो साहित्य-सत्ता परिवर्तन की घटना-वीथिका में भक्तिकाव्य के पदच्युत होने और रीतिकाव्य के सत्तारूढ होने को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं— ''भक्ति और शृंगार की विभाजक-रेखा सूक्ष्म है। भक्ति की अनुभूति की सघनता को व्यक्त करने के लिए बहुत बार राधा-कृष्ण के चरित्र और दाम्पत्य जीवन के विविध प्रतीकों का सहारा लिया गया। कबीर जैसे बीहड़ प्रकृति के कवि भाव-विभोर होकर कहते हैं— '*हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया*' । भक्ति-सम्बन्ध की निकटता को व्यक्त करने के लिए तुलसी जैसे मर्यादा-प्रिय कवि को भी रामचरितमानस का प्रबन्ध सम्पन्न करते हुए एकदम अन्तिम दोहे में, सबकुछ कह लेने के बाद '*कामिहि नारि पिआरि जिमि*' जैसी उपमा ही सूझी। कालान्तर में राधा-कृष्ण के चरित्र अपने रूप से हट गये और वे महज दाम्पत्य जीवन के प्रतीक रूप में अवशिष्ट रह गये। प्रेम और भक्ति की सम्पृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गयी और प्रेम का शृंगारिक रूप केन्द्र में आ गया। भक्ति के रीतिकाल में रूपान्तरण की यही प्रकिया है।'' [10]

इस कथन से स्पष्ट हो रहा है कि भक्त-कवियों ने अपनी भक्ति-सम्बन्धी उक्तियों में दाम्पत्य जीवन और शृंगार अथवा काम के जो उदाहरण और उपमाएँ प्रस्तुत की हैं वे मात्र उपमा और उदाहरण ही नहीं हैं, बल्कि उनका विषय-वस्तु के साथ भावात्मक लगाव भी है। 'प्रेम और भक्ति की सम्पृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गयी और प्रेम का शृंगारिक रूप केन्द्र में आ गया'। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'श्रद्धा-भक्ति' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है— ''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'' [11] अर्थात् भक्ति में प्रेम का मिश्रण तो सैद्धान्तिक रूप से होता ही है। भक्तिकाल के सभी प्रतिनिधि कवियों के यहाँ प्रेम-भाव विभिन्न रूपों में उपलब्ध है। ज्ञानमार्गी काव्यधारा के प्रतिनिधि कबीर ने आत्मा-परमात्मा अथवा जीव-ब्रह्म के बीच प्रेम को निरूपित किया है। 'बिरह कौ अंग' में आत्मा और परमात्मा के विरह

का विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त कबीर सामाजिक प्रेम (जाति-पाँति, ऊँच-नीच, धर्म-कर्म आदि के मतभेद-उल्मूलन) की भी स्थापना करते हैं। प्रेममार्गी काव्यधारा का तो नाम ही 'प्रेम' संज्ञा से जुड़ा है। इसके प्रतिनिधि कवि जायसी स्थूल-प्रेम को सूक्ष्म-प्रेम की ओर ले जानेवाली प्रक्रिया का प्रारूप प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण-भक्ति के मुख्य कवि सूरदास माधुर्य-भाव की भक्ति में प्रेम को ही आधार बनाते हैं। इनके यहाँ परकीया नायिका (राधा) के प्रेम की तीव्रता को स्वकीया (रुक्मिणी) से अधिक वरीयता दी गयी है। स्त्री-पुरुष के प्रेम को आधार बनाकर भक्त और भगवान के मध्य प्रेम को निरूपित किया गया है। इस क्रम में सबसे अन्त में; रामभक्तिधारा के अन्यतम कवि गोस्वामी तुलसीदास भगवान राम के चरणों के प्रति अनुराग रखते हैं, प्रेम-भाव रखते हैं। तुलसीदास दास-भाव का प्रेम-निरूपित करते हैं।

इस प्रकार रामस्वरूप चतुर्वेदी जिस 'प्रेम और भक्ति की सम्पृक्त अनुभूति' की ओर संकेत कर रहे हैं, वास्तव में उसी में कुछ गणितीय परिवर्तन हुए हैं। यदि हम श्रद्धा और प्रेम के योग को सूत्र-रूप में भक्ति मान लें (प्रेम+श्रद्धा = भक्ति) तो स्पष्टत: कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे श्रद्धा-तत्त्व की कमी होती जायेगी, वैसे-वैसे योगफल में प्राप्त होनेवाली भक्ति कम होती जायेगी। यद्यपि ये गूढ और मार्मिक विषय इस प्रकार के किसी गणितीय सूत्र से हल नहीं किये जा सकते, फिर भी हम इसे 'लेमैन-स्टाइल' (Layman Style) का एक उदाहरण मान सकते हैं। रीतिकालीन काव्य में इसी श्रद्धा-तत्त्व की कमी आयी, जिसके कारण भक्ति-भावना क्षीण हुई। श्रद्धा-तत्त्व में आनेवाली इस कमी के कारण क्या थे? अथवा क्या हो सकते हैं ? इसके विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है। निष्कर्षत: मात्र इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिकता में श्रद्धा-भाव की कमी पायी जाती है।

''भक्तिकाल में शृंगारकाल की शृंगारिकता की भूमिका बन चुकी थी। सूर आदि भक्तों ने राधा-कृष्ण की जैसी प्रेमक्रीड़ा का चित्रण किया, वह उत्तरवर्ती रीतिकवियों के लिए अवलम्बन बन गया। राधा-कृष्ण की भक्ति को लेकर कितने ही सम्प्रदाय चले; जैसे– माध्व, निम्बार्क, टट्टी, अनन्य, राधावल्लभीय आदि, किन्तु सबमें मधुरा भक्ति का ही प्राबल्य रहा। राधा का जैसा मधुर और मोहक स्वरूप विभिन्न कृष्ण-भक्तों ने अंकित किया उसने उत्तरकालीन साहित्य में शृंगार-भावना का पोषण किया। राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का इतना अधिक और आकर्षक विस्तार हुआ कि शृंगारी कवियों को दूसरे नायक-नायिकाओं को चयन का विकल्प ही नहीं रह गया। शृंगार-रस के देवता श्रीकृष्ण और नायिका-भेद-ग्रन्थों के नायक-नायिका कृष्ण और राधा ही मान्य हुए। इन्हीं के प्रणय-जीवन को लेकर असंख्य प्रणय-प्रसंगों की उद्भावना की गयी।'' [१२] स्पष्ट है कि भक्तिकाल में जिस प्रेम-भाव का निरूपण मधुरता से किया गया उसी पृष्ठभूमि पर एक नयी काव्यधारा का प्रारम्भ हो गया। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी की अलग-अलग धाराओं में से सूर के काव्य को ही उपरान्त में कैसे इतना विकास मिला। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रेम-भावना एक अलग प्रवृत्ति है और भक्ति-भावना एक अलग ही प्रवृत्ति है। कम-से-कम सूर-परम्परा के माधुर्य-काव्य के सन्दर्भ में तो यही है। दरअस्ल प्रेम-भावना मानव-स्वभाव के लिए जितनी प्राकृतिक और सहज है, भक्ति-भावना उतनी नहीं है। कृष्ण-भक्ति में प्रेम का निरूपण ही वह तत्त्व है जो इसे स्थापित करता है। सूर आदि कवियों ने कृष्ण-भक्ति को ही आधार बनाकर स्त्री-पुरुष के प्रेम का माधुर्य स्वरूप खड़ा कर दिया। कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में बड़े-से-बड़े कथाकार उनके गोकुल-प्रसंग और वृन्दावन-वर्णन को ही केन्द्र मानकर वृत्तात्मक इति करते हैं। कृष्ण के गीता-ज्ञान के आधार पर उनकी भक्ति नहीं होती। यद्यपि कि उन्हें योगेश्वर कहा जाता है और उनकी सम्पूर्ण जीवन-लीला को महत्त्व दिया जाता है, परन्तु एक साधारण भक्त उनकी भक्ति में इसी मधुरता के कारण ही प्रवृत्त होता है, गीता-ज्ञान-भाव के कारण नहीं।

यहाँ एक बात और ध्यातव्य है, क्या प्रेम में भक्ति की सम्भावनाएँ हैं या भक्ति में प्रेम की गुंजाइशें बनती हैं ? इतिहास तो यही बता रहा है कि भक्ति में प्रेम की सम्भावनाएँ बनी हैं और उदाहरणस्वरूप भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल आया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भक्ति का विकास प्रेमोन्मुखी होता है; और यदि ऐसा नहीं है(अर्थात् भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल का आना भक्तिकाव्य का विकास नहीं है), तो भक्तिकाव्य में प्रेमतत्व होना भक्ति की आन्तरिक विसंगति है। रीतिकाव्य भी इसी भारतीय चिन्तन-परम्परा का साकार रूप है और भक्तिकाव्य भी इसी भारतीय चिन्तना का नि:सरण है कि प्रेम और भक्ति आपस में मिश्रित भाव हैं। हमें दोनों को निरवशेष भाव से स्वीकार करना चाहिए।

भक्ति के बाद इस रीतिकाव्य का आगमन समाज और साहित्य के मूल्यों में एक प्रकार का परिवर्तन भी है और ''मूल्यों में परिवर्तन तभी होता है जब—

०१. बहुधा सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक आधारों के परिवर्तन के कारण मूल्य-व्याख्या में परिवर्तन हो जाता है;

०२. या मनुष्य के वस्तु-सम्बन्धों में कहीं भी परिवर्तन हो जाता है;

०३. या मनुष्य तथा उसकी व्यक्तिगत रुचियाँ बदलती हैं; '' [13]

अर्थात् यदि कहीं भी हम मूल्यों में परिवर्तन देख रहे हैं तो हो सकता है 'सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक आधारों के परिवर्तन के कारण' हम उन मूल्यों की व्याख्या में परिवर्तन कर रहे हों। रीतिकाव्य के मूल्यांकन-क्रम में हम यह भी तो मान सकते हैं कि हम ही उसकी व्याख्या नये परिवेश के अनुसार बदल रहे हैं। रीतिकाव्य के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों ही दृष्टिकोण मूल्यों के व्याख्या-परिवर्तन पर आधारित हैं। अपने दूसरे बिन्दु में रमेश कुन्तल मेघ यह भी संकेत कर रहे हैं कि सम्भव है कि हमारा सम्बन्ध ही किसी विषय-वस्तु के प्रति बदल जाय और परिणामस्वरूप हम मूल्य-परिवर्तन की ओर अग्रसर हों। प्रथम बिन्दु में जिस मूल्य-परिवर्तन की व्याख्या परिवर्तित होने का उल्लेख हुआ है, दूसरे बिन्दु में उसी का एक और पक्ष चिह्नित किया गया है। मूल्यों के व्याख्या-परिवर्तन को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं— पहला तो यह कि बहुत सम्भव है परिवर्तित हुए सामाजिक और आर्थिक आधारों के कारण रीतिकवियों ने भक्ति-मूल्यों की व्याख्या में परिवर्तन कर दिया हो। उन्हें अब नये भाव-जगत् की आवश्यकता नये समाज और नये आर्थिक ढाँचे के अनुरूप एवं अनुसार रही हो। दूसरा यह है कि बहुत सम्भव है हम आज के सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के आधार पर भक्तिकाव्य में जोड़-घटा रहे हों अथवा रीतिकाव्य में कुछ गुणा-भाग कर रहे हों। हम आज समकालीन कवियों की मानसिकता छायावाद और द्विवेदी युग के कवियों से भिन्न देखते हैं और उन्हें प्रगतिशील कहते हुए प्रशंसा भी करते हैं, फिर ये उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि रीतिकवि भक्त-कवियों की तरह ही मानसकिता रखते। युग-परिवर्तन में मति-परिवर्तन भी अन्तर्निहित रहता है।

अपने अन्तिम निष्कर्ष में रमेश कुन्तल मेघ यह भी कह रहे हैं— 'मनुष्य तथा उसकी व्यक्तिगत रुचियाँ बदलती हैं' तो मूल्यों में परिवर्तन होता है। यहाँ वे स्पष्टत: कह रहे हैं 'मनुष्य तथा उसकी व्यक्तिगत', अर्थात् मनुष्य का परिवर्तित होना एक अलग बिन्दु है और उसकी व्यक्तिगत रुचियों का बदलना अलग बिन्दु है। रीतिकाव्य में जहाँ-जहाँ राधा और कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख करते हुए शृंगार और प्रेम-निरूपण हुआ है वहाँ-वहाँ 'मनुष्य' वही भक्तिकालवाला है, परन्तु उसकी व्यक्तिगत रुचि बदल गयी है और जहाँ-जहाँ स्वतन्त्र नायक-नायिका हैं या रीतिमुक्त-काव्य का प्रेमी है वहाँ-वहाँ मनुष्य भी भक्तिकाव्यवाला नहीं हैं और न ही व्यक्तिगत रुचि भक्तिकालवाली है। दोनों परिवर्तित हो गये हैं। काव्य में व्यक्तिगत रुचि को स्थान देना, महत्त्व देना ही रीतिकाव्य को आधुनिकबोध से जोड़ता है।

रीतिकाल एवं घनानन्द-काव्य के अधिकारी समीक्षक-विश्लेषक प्रो. रामदेव शुक्ल घनानन्द के काव्य-विश्लेषण-क्रम में एक ऐसी बात लिखते हैं जो उपर उद्धृत किये डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र की बात का समर्थन ही नहीं करती है, बल्कि विकसित भी करती है। घनानन्द के बारे में वे लिखते हैं— ''इस महाकवि की प्रणयानुभूति अत्यन्त सूक्ष्म, विशद, स्पष्ट और व्यक्त है। उसमें किसी प्रकार के गोपनभाव अथवा रहस्यात्मक आवरण की भी कोई गुंजाइश नहीं है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य की प्रेमानुभूति ईश्वरीय प्रेम की गरिमा से किसी तरह भी हल्की नहीं है। घनानन्द ने पूर्ण आवेग के साथ मानवीय प्रेम का सुख-दुख भोगा। उसके बाद उन्होंने भक्ति के दिव्य आनन्द का अनुभव किया। दोनों की पवित्रता में उन्हें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं दिखायी पड़ा। भेद के नाम पर मात्रा-भेद ही उन्होंने संकेतित किया।'' [14] इसी क्रम में एक अन्य स्थान पर वे यह भी लिखते हैं कि ''घनानन्द एक मात्र कवि हैं जो प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों छोरों की स्पष्ट व्याख्या करते हैं और उनमें से किसी को भी छोटा या उपेक्षणीय नहीं मानते।'' [15] इन दोनों ही कथनों से स्पष्ट है कि रीतिकाव्य में भक्ति का समावेश था, परन्तु वही केन्द्र में नहीं थी। जैसे जीवन के विभिन्न पक्ष हैं वैसे ही वह भी एक पक्ष है। उन्होंने व्यक्तिगत प्रेम-भावना और ईश्वरीय प्रेम-भावना में सहअस्तित्व का सम्बन्ध निरूपित किया। ऊपर रीतिमुक्त के सन्दर्भ में मनुष्य और उसकी व्यक्तिगत रुचि के जिस परिवर्तन को रेखांकित किया गया है, वह घनानन्द के यहाँ उपस्थित है। विषय-वस्तु का उपस्थित रहना काव्य-रूढ़ि अथवा धार्मिक मान्यता से सम्बन्धित हो

सकता है, लेकिन घनानन्द विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति हैं और इनकी व्यक्तिगत रुचि भी विशिष्ट है। 'मानवीय प्रेम के सुख-दुख' और 'भक्ति के दिव्य आनन्द', दोनों की पवित्रता में उन्हें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं दिखायी पड़ा। घनानन्द ने 'प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों छोरों की स्पष्ट व्याख्या' की है।

इस प्रकार भक्ति काव्य के विस्थापन के पश्चात होनेवाले नवीन काव्य-स्थापन में कई बिन्दु तर्कपूर्ण और युगानुरूप हैं। कुछ बिन्दुओं से असहमति व्यक्त की जा सकती है, लेकिन उन्हें कमतर नहीं माना जा सकता। दोनों ही काव्य-प्रवृत्तियाँ इसी समाज और संस्कृति की उपज हैं।

सन्दर्भ :

1. रेने वेलेक तथा आस्टिन वारेन, साहित्य–सिद्धान्त (अनु. बी. एस. पालीवाल), पृ. २५१, सं. २०००, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, पृ. ४५, चौथा संस्करण २००६, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
3. हिन्दी-साहित्यकोश, भाग- दो, सम्पा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, पृ. ३८, पुनर्मुद्रित संस्करण २००५, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
4. डॉ. भगीरथ मिश्र, रीतिकाव्य नवनीत, पृ. २४, प्रथम संस्करण, ग्रन्थम, कानपुर
5. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. ३०८, प्रथम संस्करण १९८९, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
6. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र, रीतिकाव्य : प्रकृति एवं स्वरूप, पृ. 30, संस्करण १९८१, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
7. वही
8. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृ. २०, प्रथम संस्करण १९८१ राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली
9. निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, पृ. २६, चौथा संस्करण २००६, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
10. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी-साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. ५६, सातवाँ परिवर्धित संस्करण १९८७, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, पृ. २०, संस्करण १९९२, हिन्दी साहित्य सरोवर, आगरा
12. मध्यकालीन साहित्य-सन्दर्भ (डॉ. किशोरीलाल अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ. १४३, सम्पादक-मण्डल- डॉ. किशोरीलाल गुप्त, डॉ. विजयपाल सिंह, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, प्रथम संस्करण १९९७, स्टार पब्लिकेशन प्रा. लि., नई दिल्ली
१३. रमेश कुन्तल मेघ, सौन्दर्य-मूल्य और मूल्यांकन, पृ. ५७, प्रथम 'नेशनल' संस्करण २००८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
14. डॉ. रामदेव शुक्ल, घनानन्द का काव्य, पृ. (xii), संस्करण २००६, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
15. वही, पृ. (v)